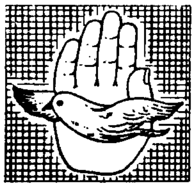

योग और ब्रह्मचर्य

☐ योगाचार्य स्वामी कृपाल्वानन्द—कायावरोहण
[जि. बरोड़ा, गुजरात]

असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतं गमय।

१. योग

योग को 'ब्रह्मविद्या' कहते हैं। यह महाविद्या अतिगूढ़, अति प्राचीन एवं सुदुष्कर है। इसकी सिद्धि के लिए अनेक जन्मों की आवश्यकता होती है। यदि तटस्थ दृष्टि से योग का मूल्यांकन किया जाय तो उसको ईशधर्म, विश्वधर्म, सर्वधर्म, मानवधर्म अथवा अमरधर्म ही कहना पड़ेगा। यह सत्य है कि उसकी उद्गम-भूमि भारत ही है तथापि उस पर समस्त विश्व का समान अधिकार है। इसकी सिद्धि के लिए योग पारंगत गुरु की कृपा अनिवार्य है। इस योग का अन्तर्भाव षड्दर्शनों में किया गया है।

विश्व में दो निष्ठाएँ सुप्रसिद्ध हैं—ज्ञाननिष्ठा एवं कर्मनिष्ठा, अतएव योग भी दो प्रकार के हो सकते हैं—ज्ञानयोग एवं कर्मयोग। इन दोनों योगों के अन्तर्गत भक्तियोग आ जाता है, क्योंकि बिना प्रेम के ज्ञान एवं कर्म विफल ही रहते हैं।

योग के प्रकार नहीं हो सकते किन्तु मनुष्य में प्रकृतिभेद, संस्कारभेद, साधनभेद, साधनाभेद, शक्तिभेद, अवस्थाभेद इत्यादि अनेक भेद होते हैं; इसी प्रयोजन से योग में अनेकता के दर्शन होते हैं।

योग का अर्थ समाधि है।

जिस प्रकार जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये मन की तीन अवस्थाएँ हैं, उसी प्रकार समाधि भी मन की एक अवस्था ही है। इस चौथी अवस्था का अनुभव सभी साधारण मनुष्यों को नहीं होता, केवल उच्च कक्षा के योगी को होता है।

योग के दो अवान्तर-भेद हैं—सकाम एवं निष्काम। इनमें से पहला सकामयोग 'समाजधर्म' कहलाता है और दूसरा निष्कामयोग 'व्यक्तिधर्म अथवा मोक्षधर्म'। अखिल विश्व के विभिन्न धर्मों में केवल एक ही, समाजधर्म की शाखा उपलब्ध होती है किन्तु भारतीय धर्मों में उपर्युक्त दो शाखाएँ उपलब्ध होती हैं। यही भारतीय धर्मों की विशिष्टता है। पहले समाजधर्म में अनुष्ठान से व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज एवं राष्ट्र समुन्नत बनता है। यह धर्म सर्वोपयोगी है। दूसरा व्यक्तिधर्म वा मोक्षधर्म महापुरुषों का धर्म है। इसी धर्म के अंशों से समाजधर्म का निर्माण किया जाता है। उसमें प्राप्त परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर बाह्य परिवर्तन होता रहता है तथापि उसके मूल अंशों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जाता।

२. ब्रह्मचर्य का महत्व

योग की परिभाषा में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को 'यम' और शौच, सन्तोष, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान और तप को 'नियम' कहते हैं। यम-नियम ही योग अथवा धर्म का वज्रदुर्ग है। इसके बिना योग वा धर्म की संरक्षा असंभाव्य है। योगपारंगत योगियों ने इन यम-नियमों को सार्वभौम महाव्रत कहा है। समाजधर्म में यम-नियम के ही अंश सर्वाधिक होते हैं।

समाजधर्म में ब्रह्मचर्य का स्थान सर्वोच्च है। यदि उसका परित्याग करके अन्य शेष अंशों को स्वीकृत कर लिया जाय तो समाजधर्म निष्प्राण शरीर के सदृश ही दिखायी देगा। उसमें चेतना नहीं रहेगी। समाजधर्म द्वारा व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज एवं राष्ट्र का चारित्र्य विधान होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राचीन भारत में चार आश्रमों का संविधान था। इनमें तीन आश्रम—ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यस्ताश्रम—अरण्य में व्यवस्थित थे। केवल एक गृहस्थाश्रम ही नगर में था। गृहस्थाश्रम के अतिरिक्त अन्य तीनों आश्रमों में ब्रह्मचर्य की प्रधानता थी। गृहस्थाश्रम में भी मर्यादाएँ थीं, जिससे आंशिक ब्रह्मचर्य सिद्ध होता था।

इस निरीक्षण से अवगत हो जाता है कि चारित्र्यविधान में ब्रह्मचर्म की समता करने वाला दूसरा एक भी उपकरण नहीं है। जिस योग में ब्रह्मचर्य के लिए स्थान नहीं है उस योग को 'योग' कहना अज्ञानता ही है, क्योंकि भोग का विपरीत शब्द योग है और योग का पर्याय है ब्रह्मचर्य। योगग्रन्थों में 'बिन्दुयोग' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी है, इससे ब्रह्मचर्य की महत्ता अनायास सिद्ध हो जाती है। भोग पतन एवं योग उत्थान है। भोग में वीर्य की अधोगति और योग में वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है। जिसको ब्रह्मचर्य का महत्व ही ज्ञात नहीं है वह विद्वान् होने पर भी मूर्ख है। बिना ब्रह्मचर्य के व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास ही नहीं होता। महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में कहा है—**ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।** "योग द्वारा ऊर्ध्वरेता बनने के पश्चात योगी महापराक्रमी हो जाता है।" वही योगी परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार कर सकता है। जब ब्रह्मचर्य द्वारा असम्भाव्य भी सम्भाव्य हो जाता है तो कीर्ति, लक्ष्मी इत्यादि लौकिक पदार्थों की प्राप्ति सम्भाव्य ही होगी, यह निःसंशय है। एक स्थान पर शिवजी ने पार्वतीजी से कहा है—"**सिद्धे बिन्दौ महादेवि ! किं न सिद्ध्यति भूतले।**" "हे पार्वती ! बिन्दु सिद्ध हो जाने पर भूतल में ऐसी कौन सी सिद्धि है कि जो साधक को सम्प्राप्त नहीं होती ?" अर्थात् बिन्दुसिद्ध ऊर्ध्वरेता महापुरुष के श्रीचरणों में समस्त सिद्धियाँ दासी होकर रहती हैं।

केवल योगी ही योग के अवलम्ब द्वारा ऊर्ध्वरेता बन सकता है। देवों का देवत्व भी ब्रह्मचर्य पर ही आधारित है—"**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।**" "देवों ने ब्रह्मचर्य रूप तप से मृत्यु को मार डाला। जहाँ मृत्यु को भी निराशा प्राप्त होती हो वहाँ बेचारे रोगों की क्या सामर्थ्य कि वे ऊर्ध्वरेता महापुरुष के शरीर में प्रवेश कर सकें।

३. ब्रह्मचर्य के महत्व का प्रयोजन

कर्मयोगी श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में कहा है—"**बीज मां सर्वभूतानाम् विद्धि पार्थ ! सनातनम्।**" "पार्थ ! सर्वभूतों का शाश्वत बीज मैं ही हूँ।" अर्थात् मैं स्वयं ब्रह्म हूँ, सर्व की आत्मा हूँ, शुक्र हूँ और समस्त सृष्टि का कारण हूँ। तभी तो ब्रह्म प्राप्ति के लिए ऋषिमुनि ब्रह्मचर्य की कठोरातिकठोर उपासना करते थे—"**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।**"

बिन्दु की यथार्थ महत्ता तो केवल एक योगी ही जानता है। इसीलिए योगीराज गोरक्षनाथजी ने शुक्रस्तुति गाते हुए कहा है—"**कंत गयाँ कूँ कामिनी झूरै, बिन्दु गयाँ कूँ जोगी।**" योगशास्त्रकार तो कहते हैं—"जब तक मृत्यु है, तब तक जन्म है और जब तक जन्म है तब तक मृत्यु है।" जन्म एक विवशता है। उसका निरोध शक्य नहीं है किन्तु मृत्यु का तो निरोध हो सकता है। प्राचीन योगविज्ञान ने यह सिद्ध किया है कि मृत्यु का कारण बिन्दु का अधःपतन और अमरता का कारण बिन्दु का ऊर्ध्वगमन है। यदि मृत्यु जीवन का एक छोर हो तो अमरता जीवन का दूसरा छोर होना चाहिए। यदि मृत्यु का कारण हो सकता है तो उस कारण को विनष्ट करने की मनुष्य में क्षमता भी हो सकती है। जब यन्त्र किसी क्षति के कारण निष्क्रिय हो जाता है तब यान्त्रिक उसको पुनः सक्रिय बना सकता है। तद्‌वत् किसी क्षति के कारण शरीरयन्त्र भी निष्क्रिय हो जाता है तब पूर्णयोगी उसको पुनः सक्रिय-जीवित बना सकता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् अत्यन्त प्राचीन है। उसमें कहा है—"**न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।**" "जिस योगी को योगाग्निमय विशुद्ध शरीर की सम्प्राप्ति हो जाती है उसके शरीर में रोग, वृद्धावस्था एवं मृत्यु प्रविष्ट नहीं हो सकते।" सबीज समाधि सिद्ध हो जाने पर योगी को योगाग्निमय दिव्यदेह की प्राप्ति होती है। यह दिव्य देह ही सच्चे योगी का बाह्य परिचय है।

४. ब्रह्मचर्य का स्वरूप और उसकी द्विविध साधना

योगदर्शन के भाष्यकार महामनीषी व्यासजी ने ब्रह्मचर्य की परिभाषा इस प्रकार की है—"**ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।**" "विषयेन्द्रिय द्वारा प्राप्त होने वाले सुख का संयमपूर्वक परित्याग करना, उसको ब्रह्मचर्य कहते हैं।" उपस्थ इन्द्रिय के संयम का नाम ही 'निष्काम कर्मयोग' है। उसी को 'ब्रह्मविद्या' भी कहते हैं। उसके अनुष्ठान से योगी ऊर्ध्वरेता बनता है। यह विद्या अत्यन्त रहस्यमयी, अतिप्राचीन और सर्वविद्याओं की जनयित्री है। उसकी प्राप्ति के अनन्तर विश्व में कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रहता। ब्रह्मचर्य की महत्ता जानने वाले असंख्य साधक ब्रह्मचर्य-पालन का प्रयत्न तो करते हैं किन्तु ब्रह्म-विद्या की उपलब्धि के लिए जैसा ब्रह्मचर्य-पालन अपेक्षित है वैसा ब्रह्मचर्य-पालन वे कर नहीं सकते। इसलिए शास्त्र में कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम् ।
ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः ॥

"ब्रह्मचर्य ही सर्वोत्तम तप है, अन्य तप तप अवश्य हैं किन्तु वे समस्त तप निम्न कक्षा के हैं । जिसने उपस्थ इन्द्रिय का संयम रूप तप किया है वह ऊर्ध्वरेता महापुरुष मनुष्य नहीं किन्तु देव है ।"

१. ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य

हमारे शरीर में दो प्रकार की ग्रन्थियाँ हैं—अन्तःस्रावी एवं बहिःस्रावी । नलिकारहित अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का स्राव रसवाहिनियाँ एवं शिराएँ शोष लेती हैं । इस प्रकार रुधिरशोषित स्राव समस्त शरीर को प्राप्त हो जाता है । दूसरे प्रकार में नलिकावाली बहिःस्रावी ग्रन्थियों का स्राव नलिका द्वारा विविध अवयवों को प्राप्त होता है । बाल्यावस्था में बालक की शुक्रग्रन्थि और बालिका की रजःग्रन्थि में स्राव तो उत्पन्न होता है किन्तु उसको रुधिर शोष लेता है । युवा-वस्था का अभ्युदय होते ही युवक-युवती के शरीर में काम की ऊर्जा अति प्रबल हो उठती है और वह उनको विह्वल बना देती है । अन्त में स्खलन होता है । इस प्रकार जहाँ एक बार स्खलन हुआ कि सदा के लिए अधोमार्ग खुल जाता है । उसका नियन्त्रण करके ऊर्जा को ऊर्ध्वगामिनी बनाने का दुष्कर कार्य करना, मानो अवनीस्थ प्रवाहित गंगा को आकाश की दिशा में प्रवाहित करना है ।

ब्रह्मचारी बनना यह एक पक्ष है और ऊर्ध्वरेता बनना यह दूसरा पक्ष है । ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं संन्यासी का ब्रह्मचर्य साधारण ब्रह्मचर्य है और योगी का ब्रह्मचर्य असाधारण ब्रह्मचर्य है । साधारण ब्रह्मचर्य पालन करने वाले व्यक्ति यम-नियम सहित सामान्य योग का प्रश्रय लेते हैं और असाधारण ब्रह्मचर्य पालन करने वाला योगी यम-नियम सहित सहजयोग का प्रश्रय लेता है । दूसरा मार्ग अतिविकट होने से कोई बिरला महापुरुष ही उसकी यात्रा कई जन्मों के पश्चात ही पूर्ण कर सकता है ।

ब्रह्मचर्य-पालन के लिए कतिपय अत्यावश्यक नियम

विजातीय का दूषित भाव से स्मरण नहीं करना चाहिए । मन को व्यग्र करने वाली उसकी चर्चा भी नहीं करनी चाहिए । प्रत्यक्ष में उसके साथ क्रीड़ा भी नहीं करनी चाहिए । उसको अनुराग की दृष्टि से देखना भी नहीं चाहिए । उसके साथ एकान्त में वार्तालाप भी नहीं करना चाहिए । उपयोग का संकल्प भी नहीं करना चाहिए । उसकी प्राप्ति के लिए निश्चय भी नहीं करना चाहिए और सम्भोग भी नहीं करना चाहिए ।

अब हम सामान्य साधकों को ब्रह्मचर्य रक्षा के लिए कुछ वैज्ञानिक उपाय दिखाते हैं ।

(अ) **विशिष्ट उपाय**—यदि किसी भी कारण से मन में कामवासना का संचार हो जाय तो नेत्रों को भ्रूकुटि के मध्य में बारम्बार सुस्थिर करना चाहिए, इससे अवांछनीय जागृति का प्रशमन हो जायेगा । अपानवायु प्रबल बनने से गुह्येन्द्रिय जाग्रत होती है और मन विक्षुब्ध । जैसे-जैसे मन विषयमग्न होता जाता है वैसे-वैसे अपानवायु और गुह्येन्द्रिय ये दोनों निरंकुश होते जाते हैं । इस अवस्था में अपान के वेग का प्रतिकार करने के लिए प्राण की शरण लेनी चाहिए । नेत्रों को भ्रूकुटि के मध्य में स्थापित करने से प्राण की शरण प्राप्त हो जाती है । शरण मिलते ही अपान निर्बल होता जाता है और इन्द्रिय की जागृति न्यून होती जाती है । भ्रूकुटि में नेत्रों को बारम्बार सुस्थिर करने से वायु की गति में परिवर्तन होता है और वायु की गति में परिवर्तन होने से मन की गति में परिवर्तन होता है । जिस प्रकार यन्त्र के गति-मान चक्र को स्तम्भित करने के लिए हम नियत यन्त्रावयव को दबाते हैं तो वह अवश्य रुक जाता है, उसी प्रकार शरीर यन्त्र के सक्रिय विषय-चक्र को नियन्त्रित करने के लिए नेत्रों को भ्रूकुटि में बारम्बार सुस्थिर करना चाहिए । इससे वह अवश्य ही नियन्त्रण में आ जायेगा । यह योगयुक्ति है । संयमी साधकों के लिए तो यह युक्ति देवी सम्पत्ति का भण्डार है ।

(आ) **सामान्य उपाय**—१. यदि मन एवं इन्द्रिय में कामवासना का प्राथमिक संचार होने लगा हो तो मात्र एक गिलास शीतल जल पीने से और मन को सद्‌विचार में प्रवृत्त करने से उसका प्रशमन हो जाता है ।

२. उस समय माता, बहिन, पुत्री, आराध्यदेव अथवा श्रद्धेय श्री सद्‌गुरु की पवित्र स्मृति में मन को स्थिर करने से कामवासना निवृत्त हो जाती है किन्तु यहाँ यह आध्येय है कि यदि उन स्मरणीय व्यक्तियों के प्रति परमादर होगा तभी यह क्रिया सिद्ध हो सकेगी ।

३. एकान्त के परित्याग से भी कामवासना दूर हो जाती है ।

४. उस अवस्था में लघुशंका करके गुह्येन्द्रिय पर पाँच मिनट पर्यन्त शीतल जल की पतली धारा डालनी चाहिए । इससे जागृति में बाधा उपस्थित होगी और मस्तिष्क में इस नयी प्रवृत्ति के कारण नवीन विचारों का उद्‌भव होगा, जिससे विषय-विकार दुर्बल होकर विनष्ट हो जायेगा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. शीतल जल के स्नान से भी कामवासना शान्त हो जाती है।

६. कटि डूब जाय इतने गहरे जल में खड़े रहने से अथवा शीतलजलपूर्ण टप में बैठने से विषय-विकार विनष्ट हो जाता है।

७. गुरुमन्त्र सहित पन्दरह-बीस लोम-विलोम प्राणायाम करने से भी कामशमन हो जाता है। लोम-विलोम के स्थान पर भस्त्रिका प्राणायाम का प्रयोग भी हो सकता है। लोम-विलोम प्राणायाम में मन्त्र की शक्ति मिलती है, अतः मन बलवान हो जाता है और वह विषय-विकार के वशीभूत नहीं होता।

८. सद्ग्रन्थों के पाठ, प्रभु प्रार्थना अथवा इष्ट मन्त्र के जप से भी कामवासना नष्ट हो जाती है।

२. ऊर्ध्वरेता योगी का ब्रह्मचर्य

ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि ऊर्ध्वरेता हुए बिना नहीं होती, इसलिए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणालेन च॥

"कौन्तेय! ज्ञानी का नित्य वैरी अतृप्त काम है। उसके द्वारा ब्रह्मज्ञान ढँका हुआ है।" जिस प्रकार यन्त्र में वाष्प को रुँधने से आश्चर्यजनक ऊर्जा उत्पन्न होती है उसी प्रकार शरीर में शुक्र को ऊर्ध्वगामी बनाने से अलौकिक शक्ति उत्पन्न होती है। इससे सर्वप्रथम योगी का शरीर दिव्य हो जाता है। योग की जिस भूमिका में योगी को दिव्य शरीर की प्राप्ति होती है उस भूमिका को भक्तिशास्त्रों ने 'सारूप्यमुक्ति' कहा है। उस मुक्ति की प्राप्ति के पश्चात् अर्थात् उस भूमिका के उत्क्रमण के पश्चात योगी को योग की चतुर्थ भूमिका में 'साष्ट्र्य' नामक मुक्ति की उपलब्धि होती है। 'सारूप्यमुक्ति' में उसको श्रीहरि के समान रूप की और 'साष्ट्र्यमुक्ति' में श्रीहरि के समस्त अधिकारों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार योगी हरिरूप हो जाता है। मुक्ति की यह चतुर्थ भूमिका सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग एवं भक्तियोग की चरम सीमा है।

ब्रह्मविद्या के आद्य प्रवर्तक श्री ऋषभदेव हैं। शिवजी एवं कर्मयोगी श्रीकृष्णजी भोगी नहीं अपितु ऊर्ध्वरेता योगी हैं।

ऊर्ध्वरेता (निष्काम) बनने के लिए साधक को आरम्भ में क्या करना चाहिए। यह श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रकार बताया है—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ३/४०॥

"इसलिए, भरतश्रेष्ठ! तू पहले इन्द्रियों को रोककर ज्ञान-विज्ञान के नाश करने वाले इस पापी काम को निश्चय ही त्याग दे।" अब वे उस काम को किस युक्ति द्वारा दूर करना चाहिए, वह बताते हैं—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥३/४१॥

"इस प्रकार इस दुर्विजय कामरूप शत्रु को बुद्धि से भी प्रबल मानकर, हे महाबाहो! तू आत्मा से आत्मा को रोककर त्याग।" इस श्लोक में काम को दूर करने के लिए आत्मा को आत्मा से स्तम्भन करने की प्रेरणा प्रदान की गयी है। यह एक रहस्यमयी योग प्रक्रिया है। मैं यहाँ 'आत्मा' शब्द का अर्थ 'शुक्र' करता हूँ। संस्कृत में 'आत्मन्' शब्द अनेकार्थी है। इनमें 'जीवनतत्त्व' और 'सारतत्त्व' इन अर्थों का भी समावेश होता है। शुक्र जीवनतत्त्व भी है और सारतत्त्व भी। अतः इन शब्दों को आत्मा के स्थान पर प्रयुक्त किया जा सकता है। यहाँ प्रसंग भी काम को दूर करने का है। दूसरा 'आत्मा' शब्द शुद्ध मन के लिए प्रयुक्त किया गया है। आत्मा को आत्मा से रोकना यानी शुद्ध मन से वीर्य को स्खलित होने से रोकना। इस योग प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार है—

महाभारत के युद्ध की अपेक्षा विषय-वासना का युद्ध अति भीषण है। निष्काम कर्मयोग में साधक को सिद्धासन द्वारा शुक्रग्रन्थि में शुक्र उत्पन्न कर उसको ऊर्ध्वगामी बनाते रहना होता है। शुक्रग्रन्थि में वीर्योत्पत्ति तब होती है जबकि गुह्येन्द्रिय में प्रबल जागृति आती है। जिस समय अपानवायु शुक्र को बलात् अधोमार्ग में आकर्षता है, उस समय अक्षुब्ध योगसाधक को प्राणवायु की सहायता द्वारा अपानवायु को ऊर्ध्वगामी बनाने का अति भीषण कर्म करना पड़ता है। यह कार्य योगयुक्ति एवं आचार्य के अनुग्रह द्वारा ही हो सकता है। इस 'निष्काम कर्मयोग' का यथार्थ स्वरूप अवगत न होने के कारण पीछे से बौद्धधर्म और सनातन धर्म की शैव, वैष्णव और शाक्त शाखाओं में वाममार्ग का प्रचलन हुआ था।

निष्काम कर्मयोग द्वारा शरीर की प्रत्येक नाड़ी मलरहित हो जाने के पश्चात् शरीर स्वाभाविक रीति से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुस्थिर एवं सरल हो जाता है। अर्थात् प्रत्याहार की भूमिका समाप्त होकर ध्यान की भूमिका का आरम्भ होता है। इस अवस्था में बाह्य इन्द्रियाँ ध्यान को सहयोग प्रदान करती हैं। किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं करतीं। इससे मनोनिग्रह सुकर हो जाता है। अन्य शब्दों में इस तथ्य को प्रस्तुत करना हो तो इसे इस प्रकार कर सकते हैं कि इन्द्रियों की चंचलता छूट जाने के पश्चात् मन स्वाभाविक रीति से अन्तर्मुख हो जाता है, क्योंकि मन की बहिर्मुखता का कारण इन्द्रियों की चंचलता ही होता है। प्राण और मन की सहायता द्वारा इन्द्रियनिग्रह सिद्ध होता है, अतः इन्द्रियों की चंचलता विनष्ट होने से प्राण एवं मन में भी आंशिक स्थिरता का संचार होने लगता है। इस भूमिका की प्राप्ति के अनन्तर ही सांख्ययोग का आरम्भ आज्ञा-चक्र से होता है। निष्काम कर्मयोग द्वारा मूलाधारचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपूरचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्धाख्यचक्र तथा ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि एवं रुद्रग्रन्थि का भेदन होता है। इन चक्रों के स्थान कर्मेन्द्रियों की सीमा में होने के कारण उसको निष्काम कर्मयोग का क्षेत्र कहा है। निम्न चक्रों एवं ग्रन्थियों के भेदन के अनन्तर आज्ञाचक्र एवं सहस्रदलपद्म के भेदन का कार्यारम्भ होता है। इन चक्रों के स्थान ज्ञानेन्द्रियों की सीमा में होने के कारण उसको ज्ञानयोग या सांख्ययोग का क्षेत्र कहा है।

अब गीताकार कैसी पात्रता वाले साधक इस अतिगूढ़ और सर्वोत्तम ब्रह्मविद्या को प्राप्त करते हैं, वह बतलाते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नमध्यात्म कर्म चाखिलम् ॥७/२९॥

"जो जरामरण से छूटने के लिए मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं वे उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को और समस्त कर्मों को जान लेता है।" यह श्लोक अत्यन्त ध्यानपूर्वक चिन्तन करने योग्य हैं। इसमें कहा गया है कि जो साधक स्व-शरीर को वृद्धावस्था और मृत्यु से विमुक्त करने के लिए मेरी शरण ग्रहण करके साधना करता है, केवल वही उस परब्रह्म परमात्मा को, सम्पूर्ण अध्यात्म को और समस्त कर्मों को जान लेता है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि जो योगी ऊर्ध्वरेता बनकर दिव्य शरीर की उपलब्धि करता है, वही जरा-मरण से विमुक्त जीवनमुक्त है और वही योगी सच्चा तत्त्वदर्शी महापुरुष है। इस श्लोक में 'जरा' शब्द अधिक महत्व का है। जो मरण से छूटता है वह जन्म से भी छूट जाता है। मरण से छूटना ही जन्म से छूटना है। अतः यहाँ जरा-मरण के स्थान पर 'जन्म-मरण' शब्द को ग्रहण करना अनुचित है। जरा-मरण से छूटना यानी योगाग्निमय दिव्य शरीर को पाना। योगी दिव्य शरीर की प्राप्ति की भूमिका पर्यन्त पहुँचता है। उस अवधि में चित्त की संशुद्धि हो जाती है। निर्बीज समाधि की सिद्धि का सामान्य चिह्न दिव्य शरीर है। वह समाधि तभी सिद्ध होती है जबकि योगी के अन्तःकरण में परम वैराग्य उत्पन्न होता है। अतः यह स्पष्ट है कि ऐसे योगी को पार्थिव अथवा अपार्थिव शरीर के प्रति ममता या आसक्ति नहीं होती। यदि ममता या आसक्ति हो तो उसके अन्तःकरण में परम वैराग्य उत्पन्न हुआ है, ऐसा नहीं कह सकते। ऐसा योगी निर्बीज समाधि सिद्ध ही नहीं कर सकता। मोक्षेच्छु योगी योग की सिद्धियों के लिए साधना नहीं करता, उसको तो केवल मोक्ष की ही कामना होती है और वह भी पर-वैराग्य की उत्पत्ति के अनन्तर लुप्त हो जाती है। तत्पश्चात् वह निरिच्छ और निर्भय होकर उपासना किया करता है। यह योग विज्ञान है।

तन्त्रों ने दिव्य शरीर की प्राप्ति को एक सिद्धान्त ही माना है। इतना ही नहीं, बौद्धतन्त्रों ने भी उसी को महत्ता दी है। बौद्धधर्म के तीन महा सिद्धान्त हैं—शील, समाधि एवं प्रज्ञा। ज्ञान की स्थिति अन्तिम है। इसका वैज्ञानिक क्रम इस प्रकार है—शील एवं समाधि से प्रज्ञा का उद्गम होता है। जब तक शरीर की सम्पूर्ण शुद्धि नहीं होती, तब तक मलिन शरीर में प्रज्ञा अथवा परमज्ञान को धारण करने की क्षमता ही नहीं उत्पन्न हो पाती। शुद्ध शरीर में ही शुद्ध ज्ञान का आविर्भाव हो सकता है। शील द्वारा शारीरिक शुद्धि एवं समाधि द्वारा चित्तशुद्धि होती है। जब क्रियायोग द्वारा रजस्-तमस् निर्बल बनते हैं और सत्त्वगुण अति प्रबल होता है तभी चित्त शुद्ध होता है। ऋतंभराप्रज्ञा को ही श्रीमद्भगवद्गीता के अठारहवें अध्याय में सात्त्विक बुद्धि कहा है। इस दृष्टिकोण से 'नाड़ीशुद्धि' शब्द 'चित्त-शुद्धि' का पर्याय है।

कर्मयोगी श्रीकृष्ण अपने प्रियतम शिष्य को आज्ञा करते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥६/४६॥

"तपस्वियों और ज्ञानियों से भी योगी अधिक श्रेष्ठ है, इतना ही नहीं, अग्निहोत्रादि कर्म करने वालों से भी योगी अधिक श्रेष्ठ है, अतः हे अर्जुन ! तू योगी ही बन।"

योगी बनना यानी ऊर्ध्वरेता बनना।

★★★

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org